© 2018 IJSRST | Volume 4 | Issue 2 | Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X

व्याकरण-दर्शन के अनुसार वाक्य-लक्षण

डॉ० मधुमिता
A-21, बैंकमेन्स कॉलोनी,
चित्रगुप्तनगर, कंकरबाग,
पटना, बिहार, भारत

सारांश- भर्तृहरि ने वाक्य के 8 लक्षण वाक्यपदीय के दूसरे कांड में दिया है। भर्तृहरि के अनुसार वैसे तो सभी लक्षण व्यख्येय हैं किंतु उनका विशेष आग्रह अखंड पक्ष के प्रति है। इस पक्ष में जो द्वितीय सिद्धांत एक: अनवयव: शब्द: है वह स्फोटात्मक वाक्य से जुड़ा होने के कारण वैयाकरणों को अधिक उत्कृष्ट लगता है। उसी दृष्टि से भर्तृहरि ने भी वाक्य विचार किया है।

प्रमुख शब्द – वाक्य, आख्यात शब्द, भावप्रधान, संघात, संघातवर्तिनी, जाति:, अखंड, सखंड, बुद्धयनुसंहृति, अनवयव।

वाक्यपदीय का द्वितीय काण्ड वाक्य के स्वरूप-विवेचन को ही समर्पित है। इसके आरम्भ में वाक्य के आठ लक्षणों का क्रमिक उल्लेख किया गया है। वाक्य के आरम्भ में आठ विकल्पों का एक साथ उल्लेख अभी तक किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिला है। वाक्यपदीय चूँकि व्याकरण-दर्शन का ग्रन्थ है इसलिए सभी परवर्ती लेखकों ने बिना सोचे-समझे इन आठों वाक्य-लक्षणों को व्याकरण-दर्शन से जोड़ दिया है।[1] इनमें से कुछ वाक्य-विकल्पों का संबन्ध प्राचीन मीमांसा-दर्शन से अवश्य भर्तृहरि इन विकल्पों के उल्लेख के साथ जो यह पंक्ति जोड़ते "वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्'[2] उससे ज्ञात होता है कि मीमांसा दर्शन ही इन विकल्पों के लिए विपुलांश में उत्तरदायी था। मीमांसा दर्शन ही तो प्राचीन भारत में 'वाक्यशास्त्र' का विरुद प्राप्त किये हुए था। यह बात अवश्य है कि कुछ वाक्य विकल्प व्याकरण के भी हैं। वाक्य-विषयक आठ विकल्पों को टीकाकार पुण्यराज के मतानुसार निम्नलिखित तालिका से अंकित कर सकते हैं-

वाक्य[3]

अखण्डपक्ष	खण्डपक्ष	
1. संघातवर्तिनी जाति-	अभिहितान्वय	अन्विताभिधान
2. एक अनवयव शब्द	1. संघात	1. आख्यातशब्द
3. बुद्ध्यनुसंहार	2. क्रम	2. आदि पद
	3. पृथक्-पृथक् सभी साकांक्ष पद	

भर्तृहरि यद्यपि सभी लक्षणों को व्याख्येय समझते हैं तथापि उनका विशेष आग्रह अखण्ड पक्ष के प्रति है। इस पक्ष में भी जो द्वितीय सिद्धान्त-एक: अनवयव: शब्द:- है वह स्फोटात्मक वाक्य से जुड़ा होने के कारण वैयाकरणों को अधिक उत्कृष्ट तथा उपादेय लगता है। उसी दृष्टि से भर्तृहरि ने भी वाक्य-विचार किया है तथा अन्य सिद्धान्तों का खण्डन किया

है। इसलिए सामान्यत: स्थूल पूर्वपक्षीय मतों से आरम्भ करके सर्वाधिक ग्राह्य मत की ओर सभी वैयाकरणों का विवेचन उपक्रान्त होता है।

1. आख्यातशब्द: वाक्यम्

यह मत निश्चित रूप से कात्यायन का है जिन्होंने 'एकतिङ् वाक्यम्' कहा था।[1] इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में इसका विशेष रूप से परिचय दिया गया है। तिङ् का अर्थ तिङन्त पद अर्थात् आख्यात ही है। यास्क ने आख्यात को 'भावप्रधानम्' कहा था।[2] यह भाव क्रिया का पर्याय है। जब कोई क्रिया वाक्य की मुख्य भूमिका में आती है तो वह अपने उन समस्त परिकरों को ले आती है जिनके बिना उसकी निष्पत्ति नहीं हो सकती। जब कोई कहता है कि मन्त्री जी जा रहे हैं तो इसका अर्थ होता है कि उनके समस्त अनुचर –परिचर भी साथ हैं। इसीप्रकार आख्यात शब्द जब प्रयुक्त होता है तो कारक, अव्यय, क्रियाविशेषण इत्यादि भी गतार्थ हो जाते हैं। क्रियाएँ नियत साधन और अनियत साधन वाली भी होती हैं। कारकों के बिना क्रिया की आकांक्षा नहीं पूरी होती। वह फिर भी किसी वाक्य में साध्य के रूप में प्रधान मानी जाती है।

जब हम किसी वाक्य का या श्लोक का अर्थ करने लगते हैं तो सबसे पहले क्रिया की ही खोज होती है। क्रिया का अपोद्धार करने के बाद ही कारकों की खोज होती है। इसलिए क्रिया प्रधान और कारक अंगभूत होते हैं। यही '**आख्यातशब्द: वाक्यम्**' का स्वरस है।

2. संघातो वाक्यम्

इस लक्षण का अर्थ है कि पदों का संघात वाक्य है। व्याडि ने सम्भवत: यह कहा था–

पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम्।[3]

वाक्यपदीय के टीकाकार वृषभ के अनुसार यह संग्रहकार का ही कथन है (1.23 पर स्वोपज्ञ वृत्ति)। वैसे शौनक की बृहद्देवता (2.117) में भी यह श्लोकार्ध प्रयुक्त है। पदसंघात को वाक्य मानना शबरस्वामी के मत के अनुरूप है – **एकार्थ: पदसमूहो वाक्यम्।**[4] एकार्थ–परक पदों के खण्ड समवेत रूप से वाक्य कहलाते हैं। संघात में जो भी पद पृथक्–पृथक् रहते हैं उनमें परस्पर साकांक्षता अवश्य होती है। जैमिनि ने अपने प्रसिद्ध वाक्य–लक्षण में इसपर बल दिया था–

अथैकत्वादेक वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागे स्यात्।[5]

वाक्य का संघातरूप होना दो बातों को स्पष्ट करता है कि वाक्य विभाज्य है और वह सखण्ड है। संघातपक्ष के अनुसार वाक्य के संयुक्त होने से पहले पद का जो स्वतन्त्र अर्थ होता है, वाक्य का अङ्ग बन जाने पर भी उसका वही अर्थ रहता है। भर्तृहरि ने इस विषय में एक कारिका दी है

केवलेन पदेनार्थो यावानेवाभिधीयते।
वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम्।।[6]

राजा भोज ने अपने शृंगारप्रकाश में संघातवाद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे तीन पत्थर मिलकर बटलोही को धारण कहते हैं, जैसे चार कहार मिलकर पालकी ढोते हैं और जैसे कई साधन मिलकर पाकक्रिया की निष्पत्ति करते हैं उसी प्रकार सभी पद मिलकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं– **तत्र यथा त्रयोऽपि ग्रावाण उखां धारयन्ति, चत्वारोप्युद्यन्तार: शिविकाम् उद्यच्छन्ति, सर्वाण्यपि कारकाणि पाकं साधयन्ति तथा पदान्यपि सर्वाणि वाक्यार्थमन्ववगमयन्ति।**[7]

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय की एक अन्य कारिका में भी इसका संकेत किया है कि जिस प्रकार वर्ण का समुदाय वाचक होता है उसी प्रकार पद–समुदाय से निर्मित वाक्य में वाचकता होती है

यथाऽस्यावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित् ।

अर्थवन्तः समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते ।।[8]

3. संघातवर्तिनी जातिः वाक्यम्

उपर्युक्त संघातवाद वाक्य के सखण्ड पक्ष का मत है तो प्रस्तुत संघातवर्तिनी जाति' अखण्ड पक्ष का मत है। किन्तु दोनों में संघात शब्द होने से संभवतः भर्तृहरि ने इन्हें पूर्वापर क्रम से रखा है। वैयाकरणों ने जातिस्फोट पक्ष में क्रिया-वाचक अथवा कारकवाची पदों में विद्यमान शब्द-जाति को वाक्य मानकर उसकी वाचकता सिद्ध की है। व्याकरण दर्शन में सत्ता जाति के अतिरिक्त शब्दत्व-जाति भी स्वीकृत है। अर्थात् शब्द के द्वारा शब्द से वाच्य अर्थ के अतिरिक्त शब्द-जाति भी भासित होती है। यह जाति नित्य है। शब्द के स्वरूप का अवधारण करने पर ही उसके वाच्य अर्थ का ज्ञान होता है। शब्द का स्वरूपावधारण कर लेने पर श्रोता शब्द-जाति को ग्रहण करता है।

प्रस्तुत वाक्य-लक्षण का भाव यह है कि पद-संघात एक शब्द है। उसमें अवस्थित अमूर्त जाति को वाक्य तथा अर्थ-बोधक माना गया है। जब वाक्य जातिस्वरूप है तो उसका एकत्व और अखण्डत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। अनुगत प्रतीति को जाति कहते हैं। अतः एक ही वाक्य का विभिन्न पुरुषों द्वारा उच्चारण किए जाने पर अथवा एक ही व्यक्ति द्वारा विभिन्न कालों में उच्चरित होने पर उस वाक्य की समान प्रतीति सिद्ध करती है कि वाक्य जातिरूप है। पृथक्-पृथक् होने पर भी (कालगत पार्थक्य या उच्चारण करने वाले का पार्थक्य) वाक्य यदि पृथक् अर्थ नहीं देते तो इसका कारण है कि अनेक वाक्य -व्यक्तियों में अनुगत प्रतीति कराने वाली कोई जाति विद्यमान है। यदि जाति में वाचकता न मानें तो असंख्य वाक्य-व्यक्तियों के लिए उतनी ही शक्तियों की कल्पना करनी होगी।

भर्तृहरि ने जाति को समझाने के लिए भ्रमण-क्रिया का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार भ्रमण-क्रिया में कम्पन, रेचन, उत्क्षेपण आदि के कारण भेद होता है किन्तु गृहीत नहीं होता। प्रत्येक आवृत्ति में भ्रमण एक ही माना जाता है। इस प्रकार भिन्न व्यक्तियों से अवयव विहीन जाति ही वाचक तथा नियमतः वाक्य है -

यथाक्षेपविशेषेऽपि कर्मभेदो न गृह्यते।

आवृत्तौ व्यज्यते जातिः कर्मभिमणादिभिः।। [9]

व्याकरण-दर्शन में जाति को आकृति भी कहा गया है। इसके प्रवर्तक अत्यन्त प्राचीन वैयाकरण थे। भर्तृहरि ने जाति को वाक्य और वाक्यार्थ के संबन्ध में मान्यता देकर प्राचीन मत की ओर संकेत किया है। उन्होंने वाक्यपदीय में कई स्थलों पर जाति की चर्चा की है तथा इसे परिभाषित भी किया है। प्रथम काण्ड में भर्तृहरि कहते हैं कि अनेक व्यक्तियों से अभिव्यक्त होनेवाली जाति है वही स्फोट है - **अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृतः।**[10] पुनः तृतीय काण्ड में भी जाति-समुद्देश के अन्तर्गत वे एक कारिका देते हैं जिसमें सभी शब्दों को जाति की व्यवस्था के अन्तर्गत रखते हैं

संबन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।

जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः।।[11]

प्रस्तुत वाक्य-लक्षण के सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि पुण्यराज ने शब्दाकृति वाक्यवाद को जातिस्फोट कहा है (2.21 पर पुण्यराज)। बालको धावति इस वाक्य में बालक आदि वर्ण से भिन्न अनेक आधार वाली एक ही जाति है वह विभिन्न वर्ण-ध्वनियों से अभिव्यक्त होती है, नित्य है, अवयव-रहित है, वही वाचक वाक्य है।

4. एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यम्

यह अखण्डवादियों का उत्कृष्ट वाक्य-लक्षण है। इसके अनुसार वाक्य एकात्मक अवयवविहीन होता है। उसमें अवयव की कल्पना तो बाद में की जाती है। इसी सिद्धान्त में कहा गया है कि वाक्य अविभाज्य है और अपने आप में पूर्ण है। इसे समझाने के लिए वैयाकरणों ने अनेक दृष्टान्तों का आश्रय लिया है। जैसे चित्र की समग्रता, पानक रस, मयूराण्ड रस इत्यादि। चित्र एक है उसे हम समग्रता में ही देखते हैं। बाद में उसके अंशों पर दृष्टि जाती है और समीक्षा करने वाले उसके अवयव और रंग आदि पर विचार करते हैं। उसी प्रकार पानक रस (शर्बत) को भी अंशहीन मानकर आनन्द लेते हैं। बाद में उसका अवयव समझते हैं या पूछ कर जानते हैं। मयूर के अण्डे के रस में भावी मयूर के अंग-प्रत्यङ्ग, चक्रक आदि अविभक्त रूप से पड़े रहते हैं। बाद में मयूर के विकास के क्रम में वे प्रकट होते हैं। इसी प्रकार वाक्य में भी पद आदि अविभक्त रूप से रहते हैं। उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता तो अन्वाख्यान के द्वारा प्रकट होती है।

जिस प्रकार व्याकरण में पद के सम्यक् ज्ञान के लिए हम उसे प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त करते हैं किन्तु यह सारा विभाजन काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। उसी प्रकार वाक्य को समझाने के लिए अपोद्धार पद्धति से उसे पदों में विभक्त करते हैं। किन्तु पद भी प्रकृति-प्रत्यय के समान कल्पित अथवा असत्य हैं, वे वास्तविक नहीं हैं। वास्तविकता तो केवल वाक्य में है।[12] वाक्य का जब पदों में विभाजन या विश्लेषण किया जाता है तो उसका उद्देश्य केवल भाषा-शिक्षण के लिए रहता है। अबोध मनुष्य में इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वह बड़ी इकाई अर्थात् वाक्य का ग्रहण तथा अवधारण कर सके। इसीलिए वाक्यावबोध के अनन्तर या समकाल ही उसका विश्लेषण करना बुद्धि की प्रकृति बन जाती है। इसे वाक्यपदीय के प्रथम -काण्ड में भर्तृहरि ने बताया है।

व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्योभिव्यक्तिहेतुभिः।

भावावग्रहरूपेण पूर्व बुद्धिः प्रवर्तते।।[13]

अर्थात् वाक्य के अभिव्यक्त होने के समय उसकी अभिव्यक्ति के कारणों के द्वारा प्रतिपत्ता की बुद्धि उस वाक्य के भागों का अवग्रह करने लगती है। जिस प्रकार ज्ञानसामान्य एक ही है किन्तु विषयों के अनुसार उसे घटज्ञान, पटज्ञान इत्यादि कहने लगते हैं उसी प्रकार वाक्यार्थ-बोध के समय पदज्ञान की स्थिति रहती है

यथैक एव सर्वार्थप्रत्ययः प्रविभज्यते।

दृश्यभेदानुकारेण वाक्यार्थानुगमस्तथा।। [14]

विभाग का आश्रय लेकर अविभक्त वस्तु का ज्ञान कराने का काम लाघव के लिए किया जाता है। इसलिए पारमार्थिक रूप से वाक्य अविभक्त (अनवयवः शब्दः) । शास्त्र में विभाग का निरूपण प्रक्रिया के कारण होता है व्याकरण का औपचारिक रूप इसी में समर्पित है।

5. क्रमः वाक्यम् क्रम को वाक्य मानने वाले वादियों का यह मत है कि पदों का एक विशेष रूप में क्रम ही वाक्य है। जिस प्रकार वर्णों की एक विशिष्ट आनुपूर्वी को पद कहते है उसी प्रकार वाक्य भी पदों का क्रम मात्र है। भर्तृहरि इनके मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि क्रम ही वाचक होता है वाक्य नहीं

ते क्रमादनुगम्यन्ते न वाक्यमभिधायकम्।[15]

क्रम एवं वाक्यार्थ में अन्वय-व्यतिरेक का संबन्ध क्रमवादी दिखलाते हैं। यह क्रम वस्तुतः काल का धर्म है, पूर्वापर होना ही क्रम का उपजीव्य है। यदि क्रम ही वाचक है तो वाक्य जैसे उपादान या शब्द जैसे तत्त्व की सत्ता सिद्ध नहीं होती जिसे हम वाचक कह सकें। इसे भर्तृहरि निम्नलिखित कारिका में स्पष्ट करते हैं-

शब्दानां क्रममात्रे च नान्यः शब्दोऽस्ति वाचकः ।

क्रमो हि धर्मः कालस्य तेन वाक्यं न विद्यते।।[16]

इस कारिका की स्वोपज्ञ वृत्ति में भर्तृहरि ने इस मत का दुर्बल पक्ष भी प्रकट किया है कि क्रम को वाक्य मान लेने से कालात्मकता वाक्य में भी आ जाएगी क्योंकि क्रम काल के ही रूप में होता है। वैसी स्थिति में वाक्य असत् या अवस्तुक हो जाएगा। वह एक प्रलाप मात्र ही रह जाएगा, अर्थवत्ता केवल पद में ही रह सकेगी–

क्रमो हि शब्देषु कालशक्तिरूपविशेषस्य निवेश एव।

स कालात्मनो न व्यतिरिच्यते। तेन वाक्यमिति

अवस्तुकमेवेदम् अभिलापमात्रम्, पदमेवार्थवदिति। [17]

क्रम पक्ष का अनेक आचार्यों ने प्रबल खण्डन किया है। इनमें वैयाकरण ही नहीं अपितु मीमांसक आदि भी हैं।

6. बुद्ध्यनुसंहृतिः वाक्यम्

इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द का स्वरूप मुख्यतः आन्तरिक है, बाहय नहीं। बाहय ध्वनियों या किसी लिपि में लिखे गए अक्षर केवल शब्द के संकेतक है उसका वास्तविक रूप तो बुद्धि में अवस्थित है। बुद्धि में स्थित शब्द तत्त्व क्रम–विहीन है, एकात्मक है। क्रम वाले भागों (अर्थात् पद या वर्ण) से उसे व्यक्त किया जाता है। जिस प्रकार अक्षर–चिह्न (लिपि) अयथार्थ हैं उसी प्रकार क्रमवाले वर्ण या नाद अयथार्थ हैं। ये सभी आभ्यन्तर (बुद्धि में स्थित) शब्द को प्रकट करते हैं। इसी आभ्यन्तर शब्द तत्त्व को बुद्ध्यनुसंहृति या बुद्ध्यनुसंहार कहते हैं। इस अवस्था में विभक्त पदरूप नहीं हैं। एकात्मक शब्द है, वही वाक्य है।

इस मत में वाक्य की आन्तरिकता तथा एकात्मकता मानी जाती है। पुण्यराज ने आभ्यन्तर स्फोट को ही बुद्ध्यनुसंहृति कहा है –

आभ्यन्तरस्य (स्फोटस्य) तु बुद्ध्यनुसंहृतिः इति अनेनोद्देशः।[18]

वस्तुतः तीन प्रकार के स्फोटों में यह अन्यतम है। स्फोट को पुण्यराज ने पहले दो वर्गो में रखा है – बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य स्फोट जाति और व्यक्ति के रूप में दो प्रकार का है जिन्हें क्रमश **'जातिः संघातवर्तिनी'** तथा **'एकोऽनवयवः शब्दः'** के रूप में दिया गया है। अब आभ्यन्तर स्फोट ही बुद्ध्यनुसंहार के रूप में है।

प्रस्तुत वाक्य लक्षण का स्पष्टीकरण यह है कि उच्चारण के पूर्व वक्ता की बुद्धि में और उसके पश्चात् श्रोता की बुद्धि में वाक्य एकाकार होता है। वाक्य के आकार से आकारित बुद्धि ही वाक्य है जिससे उसका अर्थ प्रकट होता है। जो ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं उनसे इस बुद्धिस्थ वाक्य–तत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र होती है। इस अन्तः शब्द–तत्त्व को ही बुद्ध्यनुसंहार कहते हुए कुछ आचार्य वाक्य का स्वरूप बताते हैं–

यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम् ।

तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता ।।[19]

बुद्धि किसी अर्थ में निरूपित करके वाक्य को अपने आप में संजोए रखती है। वहाँ वर्णों का क्रम भी समाविष्ट रहता है। आवश्यकता पड़ने पर वागिन्द्रिय विभिन्न उपकरणों का प्रयोग करके उस वाक्य को प्रकाशित करती है –

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।

करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ।। [20]

ये प्रकाशक ध्वनियाँ केवल अभिव्यञ्जक हैं, वाक्य का स्वरूप नहीं है। स्फोटात्मक तथा अखण्ड वाक्यवाद से संबद्ध होने से यह वैयाकरणों का भी अपना मत है, इसमें संदेह नहीं।

7. आद्यं पदं वाक्यम्

जिस पद का किसी वाक्य में प्रथम प्रयोग होता है वही पद वाक्य है उसी पद से दूसरे पदों का आक्षेप हो जाता है। वाक्य का प्रथम पद या तो नाम (सुबन्त) होगा या आख्यात (तिङन्त या क्रियापद) होगा। नाम और आख्यात अथवा कारक और क्रिया परस्पर सम्बद्ध होते हैं। उनमें जो पद पहले प्रयुक्त होगा वह दूसरे पद का आक्षेप कर लेगा। इस आधार पर आद्य पद को कुछ आचार्य वाक्य कहते हैं।

प्रथम पद को वाक्य मान लेने पर भी इस मत में अन्य पद व्यर्थ नहीं हो जाते। वे नियम अथवा अनुवाद के लिए होते हैं। [21] आख्यात को वाक्य कहने वाले लोग भी ऐसा ही मानते हैं। भर्तृहरि ने आद्य पद को वाक्य कहने वाले सभी मतवादियों की समीक्षा मीमांसा-दर्शन के दोनों वाक्यवादियों के सन्दर्भ में की है। उन्होंने कहा है कि आदिपदवाद के अनुसार विशेष शब्द सामान्य के प्रतिरूपक माने जाते हैं (**विशेषशब्दा: केषांचित् सामान्यप्रतिरूपका:**)।[22] तब वे दूसरे शब्द के सम्बन्ध से आगन्तुक अर्थ से जुटकर केवल अनुवाद के रूप में दूसरे शब्द के अर्थ को बोद्धाओं के प्रति व्यक्त करते हैं।

जिस प्रकार पूर्व-पूर्व शब्दों के अर्थों से अनुगत होकर क्रमश: परवर्ती अर्थ प्रक्रान्त होता जाता है और संसर्गात्मक अर्थप्रक्रिया को स्पष्ट करता है यही स्थिति आदिम पद के अर्थ के सन्दर्भ में भी संगत होगी -

पूर्वैरर्थैरनुगतो यथार्थात्मा पर: पर: ।

संसर्ग एव प्रक्रान्तस्तथाऽन्येष्वर्थवस्तुषु ।। [23]

वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने इस मत का संबन्ध अन्विताभिधानवाद से जोड़ा है। उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि देवदत्त गाम् अभ्याज इस वाक्य का प्रथम पद एक अन्य वाक्य 'देवदत्त गां बधान' इस वाक्य के प्रथम शब्द से भिन्न अर्थ में ही वक्ता के द्वारा प्रयुक्त होता है किन्तु भ्रान्तिवश समान लगता है। उत्तर काल में अनुवर्ती पदों के सम्बन्ध से विशिष्ट अर्थ का बोध हो जाता है।

वस्तुत: वक्ता जब प्रथम पद का प्रयोग करता है तो वह अपने सम्पूर्ण विवक्षित अर्थ को मन में रख कर ही विशिष्ट पद का व्यवहार करता है। इसलिए आदि पद में ही पूरे वाक्य तथा वाक्यार्थ की समाप्ति हो जाती है। भर्तृहरि ने अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति में इसका संकेत किया है - **तेषामेवम् उपगृहीत-सर्वविशेषे एकस्मिन्नर्थे बहुशब्दानभ्युपगच्छताम् अविकल्प: कृत्स्नो वाक्यार्थ: प्रतिपदं प्रतिवर्ण वा समाप्यते।**[24] यद्यपि इस मत का निरसन किया गया है तथापि वाक्य-विषयक एक अवधारणा स्वतन्त्ररूप से प्रचलित थी जिसके द्वारा वाक्यार्थ की भी व्याख्या होती थी। इसका खण्डन मुख्यत: अन्य पदों की व्यर्थता की आशंका उठाकर की गई है। इसे हम आगे देखेंगे।

8. पृथक् सर्व पदं साकांक्षं वाक्यम्

इस मत के अनुसार सभी पृथक्-पृथक् पद (जो वाक्य के अवयव हैं) साकांक्ष होने पर वाक्य हैं। इस पक्ष में प्राय: वे ही युक्तियाँ दी जाती हैं जो संघात पक्ष में प्रयुक्त हैं। जिस प्रकार तीनों ग्रावा उखा (बटलोही) को धारण करते हैं, जैसे चारों वाहक पालकी को वहन करते हैं, वैसे ही सभी पद वाक्य हैं तथा सभी अपने-अपने अर्थ से युक्त रहते हैं। जैन विद्वान् मल्लवादि क्षमाश्रमण ने अपने ग्रन्थ द्वादशारनय-चक्र में इस सिद्धान्त की व्याख्या की है। उन्होंने उदाहरण दिया है

कि 'देवदत्त गाम् अभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य में प्रत्येक पद वाक्य है क्योंकि सभी पद सर्वात्मक हैं – देवदत्त गवात्मक है, अभ्याजात्मक है क्योंकि वह प्रवर्तक है और इसीलिए उन रूपों से युक्त है। गौ भी देवदत्त आदि के रूप में ढल जाता है और अभ्याज भी तदात्मक हो जाता है। [25] भर्तृहरि के अनुसार कह सकते हैं कि वाक्य के प्रत्येक अवयव में वाक्यार्थ की पूर्णता होती है (**तेषां तु कृत्स्नो वाक्यार्थः** 1. भर्तृहरि – वाक्यपदीय, 2.18, स्वोपज्ञ वृत्ति, पृ॰ 11 2. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृ॰ 357 पर उद्धृत मत, मूल संस्कृत उद्धरण के साथ। प्रतिभेदं समाप्यते)। [26]

संघातवाद तथा सर्वपदवाद में यह अन्तर है कि संघातवाद के अनुसार वाक्य के अवयव रूप पद परतन्त्र रहते हैं जबकि पृथक् सर्वपदवाद के अनुसार सभी पदों की पूर्ण अर्थद्योतकता रहती है अर्थात् वे सभी परिपूर्ण और स्वतन्त्र हैं। इसीलिए यहाँ 'पृथक्' शब्द लगाया गया है जिससे यह अन्तर स्पष्ट हो सके। संघातवाद की उपमा शकट के अवयवों से दी जा सकती है जबकि पृथक् सर्वपद–वाद का दृष्टान्त शिविका वाहकों के रूप में दिया जाता है। शिविकावाहक यद्यपि मिलकर काम करते हैं किन्तु वे स्वतन्त्र भी कार्य कर सकते हैं।

पुण्यराज ने प्रस्तुत मत को भी मीमांसा–दर्शन के अन्विताभिधानवाद से जोड़ा है। साकांक्ष होना वाक्य का अभिन्न लक्षण है। यही शब्द इसे व्यपेक्षाश्रित बनाता है। भर्तृहरि अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति में कहते हैं कि व्यपेक्षा अर्थ में हो या न हो, शब्द में तो सदा सन्निविष्ट सी रहती है। [27] व्यपेक्षा को शब्द ही व्यक्त करता है। कारकपद क्रिया में हो या न हो, शब्द ही व्यक्त है। कारकपद क्रिया में गुणभूत होकर अन्य पद की आकांक्षा करता है और क्रिया–पद प्रधान रूप में रहकर कारक पदों की अपेक्षा रखता है।

ऐसा लगता है कि बौद्ध दर्शन तथा योगदर्शन भी वाक्य–विषयक प्रस्तुत सिद्धान्त के समर्थक हैं। बौद्ध दर्शन में अभिधर्मदीप नामक ग्रन्थ में वाक्य को पद का पर्याय माना गया है (**पदपर्यायो वाक्यम्**)। उधर प्रमाणवार्तिक की कर्मगोमी रचित टीका में भी इस मत का भर्तृहरि के नाम से उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि सभी पद पृथक्–पृथक् अर्थवान् है और उनमें प्रत्येक में सम्पूर्ण अर्थ की परिसमाप्ति होती है। सभी पदों में से जिस किसी का भी प्रथम उपादान हो उसमें दूसरे पदों के अर्थ समाविष्ट रहते हैं। वे दूसरे पद केवल नियम या अनुवाद के लिए होते हैं –**यदाह भर्तृहरिः - सर्वेषां पृथक् अर्थवत्ता सर्वेषु प्रतिशब्द कृत्स्नार्थः परिसमाप्यते। तथा यदेव प्रथमं पदमुपादीयते तस्मिन् सर्वरूपार्थोपग्राहिणि नियमानुवाद-निबन्धनानि पदान्तराणि विज्ञायन्ते।** [28]

योगदर्शन के व्यासभाष्य (3.17) में भी प्रस्तुत सिद्धान्त का समर्थन है जहाँ भाष्यकार ने कहा है कि सभी पदों में वाक्यशक्ति होती है (**सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः**)। वृक्षः का उच्चारण करने पर अस्ति का बोध हो जाता है क्योंकि कोई पदार्थ सत्ता–निरपेक्ष नहीं होता (न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति)। किसी शब्द के श्रवण के बाद कम से कम उसके अस्तित्व का तो बोध होता ही है। इस प्रकार प्रस्तुत मत को दूसरे दर्शनों में भी समर्थन मिला है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :-

1. महाभाष्य – 2.1.1
2. निरुक्त – 1.1
3. संस्कृत व्याकरण दर्शन, पृ॰ 338 पर उद्धरण।

4. मीमांसा दर्शन – 2.1.14 पर शबरस्वामी का भाष्य
5. मीमांसा दर्शन – 2.1.46
6. वाक्यपदीय – 2.41
7. भोज, शृंगार प्रकाश (मैसूर संस्करण, 1955), पृ॰ 277
8. वाक्यपदीय – 2.54
9. वाक्यपदीय – 2.20
10. वाक्यपदीय – 1.94
11. वाक्यपदीय – 3.1.33
12. संस्कृत व्याकरण दर्शन – पृ॰ 345
13. वाक्यपदीय – 1.90
14. वाक्यपदीय – 2.7,
15. वाक्यपदीय – 2.49 (उत्तरार्ध)।
16. वाक्यपदीय – 2.50
17. भर्तृहरि – स्वोपज्ञवृत्ति, वाक्यपदीय, 2.50, पृ॰ 96
18. वाक्यपदीय – 2.1 पर पुण्यराज की टीका, पृ॰ 5
19. वाक्यपदीय – 2.30
20. वाक्यपदीय – 1.47 (पूना संस्करण)
21. संस्कृत व्याकरण दर्शन – पृ॰ 354
22. वाक्यपदीय – 2.17 पूर्वार्ध
23. वाक्यपदीय – 2.411
24. भर्तृहरि– वाक्यपदीय – 2.10, स्वोपज्ञ वृत्ति, पृ॰ 11
25. संस्कृत व्याकरण दर्शन – पृ॰ 357 पर उद्धृत मत, मूल संस्कृत उद्धाहरण के साथ।
26. वाक्यपदीय – 2.18
27. वाक्यपदीय– 2.48, स्वोपज्ञ वृत्ति (पृ॰ 48)
28. कर्णकगोमी प्रमाणवार्तिक टीका, (सम्पादक – राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1937), पृ॰ 464